जैन परम्परा में गुरु का स्वरूप

श्री पारसमल चण्डालिया

जैन परम्परा में सुसाधु ही गुरु है। सुसाधु कौन होता है, उसका क्या स्वरूप है तथा उसे गुरु क्यों मानना चाहिए, आदि बिन्दुओं पर प्रस्तुत आलेख में सम्यक् प्रकाश डाला गया है। **-सम्पादक**

1. गुरु कौन ? :-

मनुष्य के अंतःकरण में व्याप्त सघन अंधकार को जो विनष्ट कर देता है, जो विवेक का आलोक फैला देता है वह 'गुरु' कहलाता है। ज्ञान एवं आचरण में जो अपने से श्रेष्ठ होते हैं, त्याग और वैराग्य में जो अपने लिए आदर्श होते हैं, वे 'गुरु' कहलाते हैं। शास्त्र एवं टीका ग्रंथों में गुरु की अनेक व्याख्याएं मिलती हैं। जो धर्मज्ञ, धर्माचारी और धर्ममय जीवन जीते हुए धर्म एवं शास्त्र का उपदेश करता है, वह 'गुरु' होता है। जीवन रथ को कुमार्ग से बचा कर सन्मार्ग पर चलाने के लिए और अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए योग्य गुरु की अनिवार्य आवश्कता है।

2. जैन धर्म में गुरु तत्त्व :-

जैन धर्म में तीन तत्त्व बताए हैं - (1) देव, (2) गुरु और (3) धर्म। कर्म शत्रु का नाश करने वाले अठारह दोष रहित, सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशक अरिहंत भगवान् देव हैं। निर्ग्रन्थ (परिग्रह रहित), कनक कामिनी के त्यागी, पंच महाव्रत के धारक, पाँच समिति एवं तीन गुप्ति युक्त, षट्कायिक जीवों के रक्षक, सत्ताईस गुणों से भूषित और वीतराग की आज्ञा अनुसार विचरने वाले धर्मोपदेशक साधु महात्मा गुरु हैं। सर्वज्ञभाषित दयामय, विनयमूलक, आत्मा और कर्म का भेद ज्ञान कराने वाला, मोक्ष का प्ररूपक शास्त्र धर्मतत्त्व है।

देव, गुरु और धर्म इन तीन तत्त्वों में भी गुरु का स्थान महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि गुरु ही देव और धर्म की सच्ची पहचान कराने वाले हैं। यही कारण है कि जैनागमों में स्थान-स्थान पर गुरु महिमा का वर्णन किया गया है।

'गुरु' तत्त्व को स्वीकारने से पूर्व उसे जानना-पहचानना व मानना आवश्यक है, इसीलिये कहा जाता है - 'पानी पीजे छान के, गुरु कीजे जान के।' क्योंकि जिसका गुरु तत्त्व उत्तम है उसका देव तत्त्व और धर्म तत्त्व भी निश्चय ही उत्तम होगा। अतः गुरु की सच्ची पहिचान कर उस पर श्रद्धा और समर्पण की नितांत आवश्यकता है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

3. जैन धर्म में गुरु का स्वरूप :-

आवश्यकसूत्र में सम्यक्त्व का स्वरूप समझाते हुए आगमकार फरमाते हैं – **'जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।'**

अर्थात् जीवन-पर्यन्त के लिए सुसाधु मेरे गुरु हैं। जैन परम्परा में सुसाधु को गुरु कहा गया है। साधु शब्द का अर्थ है सीधा, सरल, सज्जन, भला। इसके साथ 'सु' शब्द जोड़ा गया है। 'सु' का तात्पर्य वीतराग प्रभु की आज्ञा के अनुसार चलने वाला। अर्थात् जिनेश्वर भगवान् के मार्ग पर चलने वाले पंच महाव्रत के धारक, पाँच समिति, तीन गुप्ति के आराधक, छह काय के रक्षक, तप एवं संयम युक्त जीवन व्यतीत करने वाले साधुओं को सुसाधु कहते हैं।

4. सुसाधु की पहचान कैसे हो ? :-

दुनिया में साधु तो कई मिल जायेंगे, पर सुसाधु की पहचान कैसे हो? इसके लिए आगमकार दशवैकालिक सूत्र के सातवें अध्ययन में फरमाते हैं –

बहवे इमे असाहू लोए वुच्चंति साहुणो।
ण लवे असाहुं साहुत्ति, साहुं साहुत्ति आलवे।।

-दशवैकालिक, 7.48

लोक में बहुत से असाधु भी साधु कहे जाते हैं, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति असाधु को साधु नहीं कहे और साधु को ही साधु कहे।

णाणदंसणसंपण्णं संजमे य तवे रयं।
एवं गुणसमाउत्तं, संजयं साहुमालवे।।

-दशवैकालिक, 7.49

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन से युक्त सतरह प्रकार के संयम में और बारह प्रकार के तप में अनुरक्त साधु को ही साधु कहना चाहिए।

'साहवो संजमुत्तरा'[1] – तप-संयम से श्रेष्ठ साधु ही सुसाधु हैं और सुसाधु ही जैन धर्म में गुरु पद में वंदनीय हैं। जो सुसाधु होता है वही सच्चा भिक्षु, निर्ग्रन्थ और अणगार होता है। उत्तराध्ययन सूत्र के पन्द्रहवें और दशवैकालिक सूत्र के दसवें 'सभिक्खू' अध्ययन में आदर्श भिक्षु अथवा सच्चा साधु कौन होता है उसका विस्तृत वर्णन किया गया है, जो जिज्ञासुओं के लिए द्रष्टव्य है।

जैन धर्म आचार प्रधान है, गुण प्रधान है। इसमें आचार और गुणों की ही पूजा है। व्यक्ति-पूजा का जैन धर्म में कोई स्थान नहीं है। इसीलिए कहा है – **'गुणेहिं साहू'**[2] विनयादि गुणों को धारण करने से साधु होता है और गुणवान् साधु ही गुरु तत्त्व में पूजनीय है। संक्षेप में सुसाधु की पहचान कैसे की जाय, इसके लिए बुजुर्ग श्रावक फरमाते हैं –

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ईर्या भाषा एषणा, ओलखजो आचार।
गुणवंत साधु देखने वंदजो बारम्बार।।

जैन परम्परा में अनगार धर्म के पालक अनगार भगवंतों की विशेषताएं श्री सूर्यमुनिजी म.सा. ने अपने स्वरचित गीत में इस प्रकार गुम्फित की है –

ऐसे निर्ग्रन्थ गुरुजी हमारे, जो आप तिरे पर तारे।।टेर।।
अज्ञान तिमिर भर्योघट भीतर, सो सब टारन हारे।
मोह निवार भये जग त्यागी, स्वपर स्वरूप निहारे।।1।।
त्रस थावर की हिंसा परिहर, अनुकम्पा रस धारे।
झूठ अदत्त परिग्रह आदि, अष्टादस अघ टारे।।2।।
नव विध वाड़ सहित ब्रह्मचारी, नारी नागन वारे।
बाह्य आभ्यन्तर एक स्वभावे, चरण करण मग धारे।।3।।
ध्यान धर्म का ध्यावे निशदिन, आरत रौद्र निवारे।
आनन्द कन्द चिदानन्द सुमरे, अघ मल पंक प्रजारे।।4।।
द्वाविंश परीषह पंच इन्द्रिय को, जीते सम अनगारे।
घोर तपोधन सम दम पूरे, पण परमाद विडारे।।5।।
श्रमण धर्म में लीन रहे नित, दिनकर धर्म उजारे।
क्षमा दया वैराग्य समाधि, धारक तत्त्व विचारे।।6।।
अनाचीर्ण बावन नित टाले, समिति गुप्ति दृढ़ पारे।
नन्दसूरि रज 'सूर्य मुनि' यों, सद्गुरू उच्चारे।।7।।

जिसमें न तो दर्शन है और न चारित्र गुण ही है, जिसकी श्रद्धा प्ररूपणा खोटी है, जो पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति से रहित है, जिसके आचरण सुसाधु जैसे नहीं है, उसे लौकिक विशेषता के कारण अथवा साधु वेष देखकर सुसाधु मानना उचित नहीं।

कौन गुरु हैं कौन नहीं, इसका विवेचन हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में इस प्रकार दिया है –

महाव्रतधरा धीरा, भैक्षमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः।।

-योगशास्त्र, 2.8

पाँच महाव्रतधारी, परीषहादि सहन करने में धीर, माधुकरी वृत्ति से भिक्षा करके जीवन चलाने वाले समभाव युक्त एवं धर्मोपदेशक गुरु माने जाते हैं।

सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशका गुरवो न तु ।।

-योगशास्त्र 2.9

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सभी (भोग्य) वस्तुओं के अभिलाषी, सभी प्रकार के भक्ष्यभोजी, परिग्रहधारी अब्रह्मचारी और मिथ्या उपदेश देने वाले गुरु नहीं हो सकते हैं।

कुगुरु न तो स्वयं संसार सागर से तिरते हैं और न ही अपने आश्रय वालों को तार सकते हैं। वे स्वयं डूबते हैं और दूसरों को भी डूबाते हैं, क्योंकि –

परिग्रहारंभमग्नास्तारयेयुः कथं परान्।
स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरीकर्तुमीश्वरः।।

– योगशास्त्र 2.10

परिग्रह और आरम्भ में मग्न रहने वाले गुरु दूसरों को कैसे तार सकते हैं ? जो स्वयं दरिद्र हैं वे दूसरों को धनाढ्य बनाने में समर्थ कैसे हो सकते हैं ?

5. वंदनीय कौन ? :–

जैन परम्परानुसार गुरु के रूप में वे ही वंदनीय होते हैं, जिन्होंने सर्व आरंभ और सर्व परिग्रह का त्याग कर दिया हो और जिनके अंतर में संयम की ज्योति प्रदीप्त हो। जो संयमहीन हैं वे वंदनीय नहीं होते। जिसकी आत्मा मिथ्यात्व के मैल से मलिन हो और चित्त कामनाओं से आकुल हो उसको सच्चा श्रावक वंदनीय नहीं मान सकता। खाने–पीने की सुविधा और मान–सम्मान के लोभ से कई साधु का वेश तो धारण कर लेते हैं, पर उतने मात्र से ही वे वंदन के योग्य नहीं होते हैं। ज्ञानियों ने गुरु की एक परिभाषा यह भी दी है – **'सो हु गुरु जो णाणी आरंभपरिग्गहा विरओ'** – जिसने विशिष्ट तत्त्वज्ञान प्राप्त किया हो और जो आरंभ तथा परिग्रह से सर्वथा विरत हो, वह गुरु है यानी जैन धर्म के अनुसार जो सुगुरु हैं वे आरंभ परिग्रह के सर्वथा (तीन करण तीन योग से) त्यागी होने के कारण स्वयं तिरते हैं और अपने आश्रितों को भी मोक्ष का राजमार्ग बता कर तिराने का पुरुषार्थ करते हैं, ऐसे सद्गुरुओं के लिए ही **'तिण्णाणं तारयाणं'** का विशेषण सार्थक होता है। जो अनगार भगवंत जिनेश्वर प्रभु द्वारा फरमाये हुए विधि–निषेधों का श्रद्धा पूर्वक पालन करते हैं वे परमेष्ठी पद अर्थात् गुरु पद (आचार्य, उपाध्याय और साधु) में वंदनीय हैं। गुरु पद में उन्हीं को स्थान प्राप्त है, जिनमें दूसरों की अपेक्षा गुणों की अधिकता हो। गुणवान् महात्मा के विद्यमान होते हुए भी गुणहीन एवं दोष पात्र को गुरु बनाना या तो अज्ञान का कारण है या पक्षपात अथवा स्वार्थ का। जिसमें बुद्धि है, जो गुणी, अवगुणी, शुद्धाचारी, शिथिलाचारी और दुराचारी का भेद समझता है, वह तो उत्तम गुणों के धारक महात्मा को ही गुरु पद में स्थान देता है।

जिसने जड़–चेतन के पार्थक्य को पहचान लिया है, पुण्य–पाप के भेद को जान लिया है, कृत्य–अकृत्य को समझ लिया है वह गुरु कहलाने के योग्य है, बशर्तेकि उसका व्यवहार उसके ज्ञान के अनुसार हो अर्थात् जिसने समस्त हिंसाकारी कार्यों से निवृत्त होकर मोह माया को तिलांजलि दे दी है, जो ज्ञानी होकर भी आरंभ परिग्रह का त्यागी नहीं है, वह संत नहीं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जो ज्ञानी हो और आरम्भ तथा परिग्रह से विरत हो उसे गुरु बनाना चाहिए। साधना के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए साधक के हृदय में श्रद्धा की दृढ़ता तो चाहिए ही, गुरु का पथ-प्रदर्शन भी आवश्यक है। गुरु के अभाव में अनेक प्रकार की भ्रमणाएं घर कर सकती हैं, जिनसे साधना अवरुद्ध हो जाती है और कभी-कभी विपरीत दिशा पकड़ लेती है। अतः जिसे हम गुरु के रूप में स्वीकार करना चाहें पहले उसकी परीक्षा कर लें और जो **'छत्तीसगुणो गुरु मज्झ'** की कसौटी पर खरा उतरे उसे ही गुरु रूप में स्वीकार करें।

6. जैन साधुता :-

जैन धर्म ने देश, काल एवं व्यक्ति की सीमाओं को तोड़ कर कहा - जो साधना करे वह साधु है। जो राग-द्वेष को जीतने की साधना करता है, अपने विकारों और कषायों का दमन करता है, मन को समता एवं शांति में रमाता है वह साधु है। जैन परम्परा में समभाव की साधना को मुख्य स्थान दिया गया है। समता ही श्रमण संस्कृति का प्राण है। इसीलिए प्रभु फरमाते हैं - **समयाए समणो होइ**[3] सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता बल्कि समता का आचरण करने से श्रमण होता है। राग द्वेष की क्षीणता, विकारों की परिमार्जना और समभाव की संवृद्धि, यह जैन साधुता की मूल निधि है।

जैन साधु की साधना **'अत्तताए परिव्वए'**[4] केवल आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए ही होती है। उनका एक मात्र ध्येय समस्त बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए होता है। उनका प्रयत्न **कम्मणिग्घायणट्ठाए अब्भुटि्ठया**[5] कर्म बन्धनों को नष्ट करने का ही होता है, वे निर्दोष आहार पानी लेते हैं और शरीर को पोषते हैं, वह भी मोक्ष साधना के लिए ही है। जैन साधु की सारी जिन्दगी सारे प्रयत्न, सभी क्रियाएं मोक्ष के लिए ही होती हैं। प्रभु जैन साधुओं की निर्दोष वृत्ति के लिए फरमाते हैं -

अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिआ।
मुक्खसाहणहेउस्स साहुदेहस्स धारणा।।[6]

जिनेश्वर देवों ने मोक्ष-प्राप्ति के साधनभूत साधु के शरीर के निर्वाह हेतु साधुओं के लिए निर्दोष भिक्षावृत्ति बताई है।

निर्ग्रन्थ श्रमण मोक्ष के लिए ही प्रव्रजित होता है अर्थात् कर्म-बन्धनों को काट कर मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही जैन साधुता अंगीकार की जाती है। मोक्ष मार्ग के आराधक मुनियों का इस प्रकार का उन्नत आचार, जिनशासन के अतिरिक्त अन्य मतों में कहीं भी नहीं कहा गया है। जो लोक में अत्यन्त दुष्कर है, जिनशासन के अतिरिक्त अन्य मतो में ऐसा आचार न तो भूतकाल में कहीं कहा हुआ है और न आगामी काल में कहीं होगा और न ही वर्तमान काल में कहीं है।[7]

जिनशासन में गुण और योग्यता का विकास करके हर व्यक्ति चरम-परम पराकाष्ठा को प्राप्त कर सकता है। अतः **'सुसाहुणो गुरुणो'** की परिभाषा अपने आप में पर्याप्त है। जीवन का उत्कर्ष बिना गुरु के

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

संभव नहीं है। यदि जीवन को सुव्यवस्थित, सम्यग् एवं निश्चित दिशा में आगे बढ़ाना है तो सुसाधुओं की चरण शरण ग्रहण कर लेनी चाहिये। इसी में हमारा कल्याण निहित है।

सन्दर्भः-

1. **उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 5, गाथा 20**
2. **दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 9, उद्देशक 3, गाथा 11**
3. **उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 25, गाथा 32**
4. **सूयगडांग सूत्र, 3.3.11**
5. **उववाई सूत्र, 17**
6. **दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 5 उद्देशक 1, गाथा 92**
7. **णण्णत्थ एरिसं वुत्तं, जं लोए परमदुच्चरं।**

   विउलट्ठाण भाइस्स, ण भूयं ण भविस्सइ ।। - दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 6 गाथा 5

-7/14, उत्तरी नेहरू नगर, विट्ठल बस्ती, बंगाली मिठाई के सामने, ब्यावर-305901(राज.)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org